08_alok_Layout 1 10/17/2014 4:55 PM Page 569

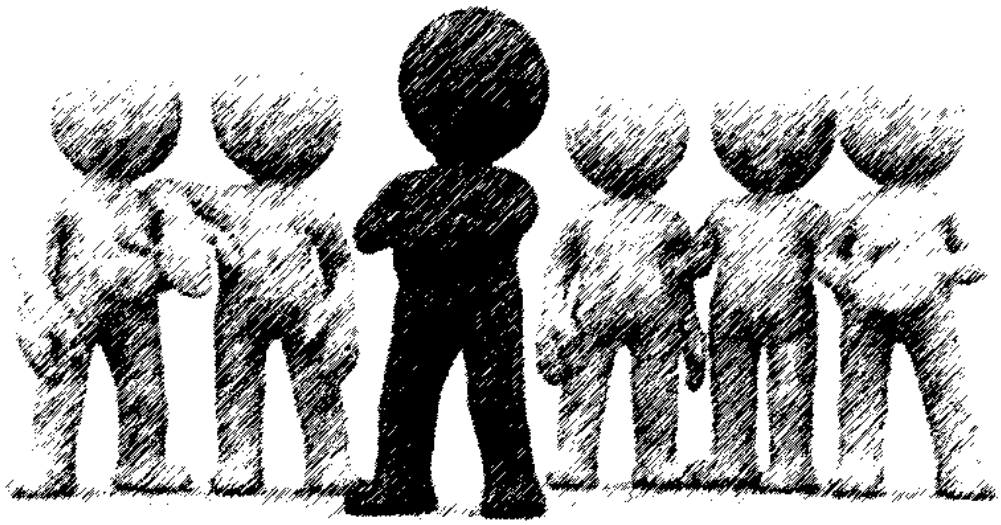

अस्मिता और अन्यता

संबंध, समस्या और समाधान

आलोक टण्डन

अस्मिता और अन्यता की समस्या दर्शन की चिरंतन समस्या है, लेकिन समय-परिवर्तन के साथ-साथ उसके स्वरूप, व्याख्या और निदान में भी अंतर परिलक्षित होता है। पहले जहाँ यह दार्शनिकों के बीच 'दूसरे मनस् की समस्या' के रूप में चर्चा का विषय थी, वहीं आज यह विभिन्न मानव समूहों (हम और वे) और ऐतिहासिक संस्कृतियों के बीच शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की समस्या के विश्लेषण और निदान तक आ पहुँची है। निश्चय ही इसके पीछे, मुख्य कारक के रूप में, सूचना और सम्प्रेषण तकनीक से लैस भूमण्डलीकरण है जिसने विभिन्न सांस्कृतिक समुदायों को इस तरह आमने-सामने खड़ा कर दिया है कि अब भिन्नता और अन्यता की पहले की तरह अवहेलना नहीं की जा सकती। इसलिए ज़रूरी है कि हम विभिन्न सांस्कृतिक अस्मिताओं के टकराव के परे, भिन्नताओं के साथ रहने की, अस्मिता और अन्यता की समस्या के निदान के लिए सुझाए गये प्रारूपों (मॉडलों) का मूल्यांकन करें। यही इस लेख का विषय है। लेकिन इसके पहले यह जानना भी ज़रूरी है कि आख़िर अस्मिता से हमारा तात्पर्य क्या है? अस्मिता प्रदत्त होती है या इसमें चयन की भी कोई भूमिका है? अस्मिता-निर्माण में अन्य की क्या भूमिका है? स्व-अस्मिता और जातीय अस्मिता में क्या संबंध होता है? अस्मिता का संकट क्या है? इसका पुनरुत्थानवाद और आतंकवाद से क्या संबंध है? अस्मिताओं में टकराव क्यों होता है? अस्मिता केंद्रित राजनीति की उपलब्धि और

08_alok_Layout 1 10/17/2014 4:55 PM Page 570

सीमाएँ क्या हैं ? क्या अस्मिताओं का शांतिपूर्ण सहअस्तित्व सम्भव है ? यदि हाँ तो उनका उपाय क्या है ? क्या सर्वसमावेशीवाद, बहुसंस्कृतिवाद, अंत:संस्कृतिवाद, या परा-संस्कृतिवाद द्वारा इसका हल सम्भव है ? या फिर हमें इसका हल संकीर्ण अस्मिताओं से परे जाकर, सार्वभौमिकता के किसी संस्करण में खोजना होगा ?

I

अस्मिता के प्रश्न का सही उत्तर पाना आज जितना मुश्किल जान पड़ता है उतना ही कठिन है इस प्रश्न से बच पाना। ऐसा इसलिए है क्योंकि यह प्रत्यय अपने आप में ही समस्यात्मक है। यह किसी सवाल का जवाब न होकर स्वयं एक सवाल है— मैं कौन हूँ? चूँकि इस सनातन प्रश्न का कोई सार्वभौम उत्तर आज तक नहीं दिया जा सका है इसलिए अस्मिता का सवाल समझने के लिए उन परिस्थितियों को भी समझना आवश्यक जान पड़ता है जिनके तहत यह प्रश्न पूछना आज महत्त्वपूर्ण हो गया है।

'आंतरिकता' के प्रत्यय का विकास आधुनिक युग का पहला नैतिक उद्‌गम था। आंतरिकता मुख्य रूप से ईसाइयत की देन थी। जब अंतरात्मा ईश्वर-प्राप्ति के लिए आत्मनिर्भर मान ली गयी तो सामाजिक संबंधों की महत्ता घट गयी और वैयक्तिकता एक निजी मसला बन कर रह गयी।

दरअसल व्यक्तिगत अस्मिता का प्रश्न आधुनिक युग की देन है। पूर्व-आधुनिक समाजों में व्यक्ति की अस्मिता उस समूह की अस्मिता थी जिसका कि वह वंशानुगत सदस्य था। वैयक्तिकता से पूरी तरह इनकार तो नहीं था लेकिन वह मुख्यत: सामूहिकता पर ही टिकी हुई थी। व्यक्ति स्वयं को समूह के सदस्य के रूप में देखता था जिसमें व्यक्तिगत निर्णय की सम्भावनाएँ न के बराबर थीं। इसलिए अस्मिता का सवाल व्यक्ति से इस भाँति जुड़ा हुआ नहीं था, जैसा कि आज है। मध्ययुगीन समाजों में 'वफ़ादारी' के गुण को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। इसलिए 'मैं कौन हूँ?' प्रश्न का उत्तर यह था कि 'मैं' किसके प्रति वफ़ादार हूँ। व्यक्ति जिस समूह के प्रति वचनबद्ध होता था उसी से उसकी अस्मिता निर्धारित होती थी।

ज़ाहिर है कि अस्मिता का सवाल एक ओर सामाजिक संबंधों के पुराने ताने-बाने के बिखर जाने और परम्परागत विचार-संदर्भों के खो जाने का परिणाम है, वहीं दूसरी ओर यह पश्चिमी दुनिया में, विशेषकर अट्ठारहवीं शताब्दी के बाद से, व्यक्ति की अवधारणा के विकास के साथ जुड़ा हुआ है। व्यक्तिगत अनन्यता की अवधारणा व्यक्तिवाद के विकास के साथ ही विकसित हुई। व्यक्तिवाद ने व्यक्ति की उस समूह से स्वतंत्रता को मान्यता दी जिसका कि वह सदस्य था और साथ ही साथ व्यक्ति के स्वयं के साथ संबंध को एक गहनता प्रदान की। जैसा कि चार्ल्स टेलर ने दर्शाया है— 'आंतरिकता' के प्रत्यय का विकास आधुनिक युग का पहला नैतिक उद्‌गम था। आंतरिकता मुख्य रूप से ईसाइयत की देन थी। जब अंतरात्मा ईश्वर-प्राप्ति के लिए आत्मनिर्भर मान ली गयी तो सामाजिक संबंधों की महत्ता घट गयी और वैयक्तिकता एक निजी मसला बन कर रह गयी। व्यक्तिवाद के विकास में जहाँ एक ओर देकार्त के तर्कवाद ने सामान्य जीवन और निजी क्षेत्र को महत्त्व प्रदान कर योगदान दिया वहीं जॉन लाक द्वारा प्रतिपादित सामाजिक बाध्यता पर इच्छा-स्वातंत्र्य की वरीयता के सिद्धांत ने उसे मज़बूती प्रदान की। किंतु आत्मपरकता के इसी तत्त्वशास्त्र में प्रारम्भ से ही एक द्वंद्व विद्यमान था। प्रामाणिकता के आदर्श के साथ एक बिखरे हुए व्यक्ति को एकरूपता देने के प्रयास में टकराव निहित था। टेलर

08_alok_Layout 1 10/17/2014 4:55 PM Page 571

ने इसे सफलतापूर्वक दर्शाया है कि किस प्रकार आधुनिकता ने समतावादी व्यक्तिवाद और स्व-अभिव्यक्ति में क्रांति, दोनों को एक साथ प्रश्रय दिया। आत्म-अभिव्यक्तिवाद ने व्यक्ति को अपने प्रामाणिक आत्म की खोज के लिए प्रेरित किया जो किसी बँधे-बँधाए ढाँचे पर निर्भर नहीं थी। इस तरह अस्मिता खोज का विषय बन गयी। लेकिन यह खोज इतिहास में नहीं, भविष्य में की जानी थी। आधुनिकता ने जहाँ एक ओर परम्परागत विश्वासों को संदिग्ध बना दिया, वहीं दूसरी ओर अस्मिता के सवाल को प्रकृति के क्षेत्र से निकाल कर सामाजिक-संस्थागत क्षेत्र में स्थापित कर दिया। उदारतावादी आधुनिकता की दृष्टि में मनुष्य की अस्मिता उसकी चयन की शक्ति में निहित है। इसलिए अस्मिता अब अतीत में खोज का विषय नहीं वरन् भविष्य में चयन का विषय बन गयी।

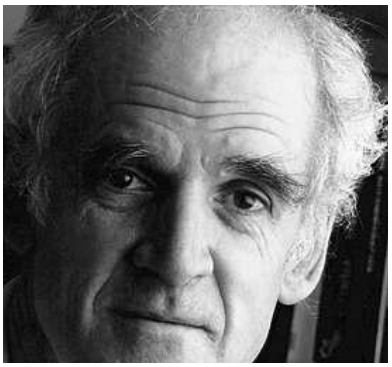

चार्ल्स टेलर के शब्दों में मेरी अस्मिता मेरे जुड़ावों और पहचानों से परिभाषित होती है। इन्हीं से मुझे वह रूपरेखा हासिल होती है जिसकी बिना पर मैं यह निर्णय कर पाता हूँ कि अच्छा और करणीय क्या है या कि व्यक्ति को क्या करना चाहिए या वह क्या चीज़ है जिसे मैं अच्छा या बुरा कहता हूँ।

अस्मिता को लेकर आधुनिकता में दो विचार-दृष्टियाँ सामने आयीं। उदार परमाणुवादी दृष्टि के मुताबिक़ अलग-अलग व्यक्ति ही मिल कर समाज का निर्माण करते हैं और यांत्रिक तर्क ही उसकी स्वतंत्रता को आधार प्रदान करता है। मनुष्य की गरिमा उसके आत्यंतिक स्वभाव में न होकर उन अधिकारों में समाहित होती है जो सभी को समान रूप से प्राप्त होते हैं। समुदायवादियों ने समाज से कटे 'स्व' की उक्त उदारवादी धारणा की जमकर आलोचना की और कहा कि व्यक्ति समाज के बिना जीवित नहीं रह सकता। अकेले व्यक्ति की अवधारणा का खण्डन करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया कि मनुष्य की स्थिति ऐसी है कि वह सदा किसी विशिष्ट सामाजिक-सांस्कृतिक-नैतिक-राजनीतिक क्षेत्र में साँस लेता है, भले ही वह उससे एक दूरी बनाए रखे। वह हमेशा एक अतीत से जुड़ा रहता है जो उसकी अस्मिता का निर्धारण करता है और भविष्य का संदर्भ उसकी अस्मिता का पुन:परीक्षण करता है। विद्वानों ने इसे अलग-अलग नाम दिये हैं किंतु सभी का अर्थ यही है कि हर किसी को विरासत में एक समुदाय प्राप्त होता है जो उसके मूल्य-मान्यताओं को जड़ें प्रदान करने के अलावा उसकी इच्छाओं और चयन की सीमाएँ भी निर्धारित करता है। चार्ल्स टेलर के शब्दों में,

> मेरी अस्मिता मेरे जुड़ावों और पहचानों से परिभाषित होती है। इन्हीं से मुझे वह रूपरेखा हासिल होती है जिसकी बिना पर मैं यह निर्णय कर पाता हूँ कि अच्छा और करणीय क्या है या कि व्यक्ति को क्या करना चाहिए या वह क्या चीज़ है जिसे मैं अच्छा या बुरा कहता हूँ। यह रूपरेखा एक तरह से उन सीमाओं को निर्धारित करती है जिनके बीच मेरा रवैया तय होता है।[1]

यहाँ पर प्रश्न उठाया जा सकता है कि चूँकि आधुनिकता परम्परागत रूप में प्रदत्त अस्मिता के स्थान पर मनुष्य के स्वतंत्र अस्मिता-निर्माण की पक्षधर है अत: उसकी भूमिका संस्कृति विरोधी होनी

[1] चार्ल्स टेलर (1989), *सोर्सेज़ ऑफ़ सेल्फ़*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज : 27.

08_alok_Layout 1 10/17/2014 4:55 PM Page 572

चाहिए। किंतु ऐसा मानना ग़लत होगा। सिद्धांत रूप में सांस्कृतिक अस्मिता व्यक्तिगत स्वतंत्रता को अवरुद्ध नहीं करती। जुड़ाव का अर्थ बंदी होना नहीं है। अपने समुदाय की मान्यताओं, व्यवहारों की आलोचना करना सदा सम्भव है और उनके बीच चयन की स्वतंत्रता भी, किंतु यह आलोचना व्यक्ति और समुदाय के संबंधों पर ही टिकी होती है। किमलिका के शब्दों में,

> जो लोग स्वायत्तता को महत्त्वपूर्ण मानते हैं, वे राष्ट्रीय संस्कृति को भी महत्त्व देते हैं क्योंकि यह संस्कृति ही उस संदर्भ का निर्माण करती है जिसमें कोई समुदाय अपनी स्वायत्तता का अधिकतम विकास और उपयोग कर सकता है।[2]

बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में आधुनिक समाजों में तेज़ी से आये परिवर्तनों के फलस्वरूप उनके सांस्कृतिक परिदृश्य में दरारें स्पष्ट होने लगीं। समय और स्थान की अवधारणा में परिवर्तन हो जाना, सामाजिक संबंधों का दायरा लोकल से ग्लोबल हो जाना और सामाजिक संरचना का एक-केंद्रित से बहुकेंद्रित हो जाना आदि परिवर्तनों के फलस्वरूप वर्ग, लिंग, नस्ल, जातीयता, राष्ट्रीयता, जिनसे व्यक्ति की सामाजिक अस्मिता को आधार मिलता आया था, उनमें विखण्डन की प्रक्रिया तेज़ हो गयी। इससे एक अखण्ड वैयक्तिक अस्मिता भी ख़तरे में पड़ गयी। एक 'स्थायी स्व का अभाव' जिसे 'डिस्लोकेशन' या 'डिसेंटरिंग ऑफ़ द सब्जेक्ट' भी कहते हैं, सामने आया। इसे हम अस्मिता का उत्तर-आधुनिक प्रारूप भी कह सकते हैं। इसी के साथ अस्मिता का स्थायी या मूलभूत प्रत्यय, जो ज्ञानोदय के समय से वैयक्तिक अस्मिता को आधार देता आया था, विदा हो गया प्रतीत होता है।

किमलिका के शब्दों में जो लोग स्वायत्तता को महत्त्वपूर्ण मानते हैं, वे राष्ट्रीय संस्कृति को भी महत्त्व देते हैं क्योंकि यह संस्कृति ही उस संदर्भ का निर्माण करती है जिसमें कोई समुदाय अपनी स्वायत्तता का अधिकतम विकास और उपयोग कर सकता है।

अस्मिता के प्रत्यय के ऐतिहासिक विकास-क्रम के उपरोक्त विवेचन से हम अस्मिता के तीन प्रत्ययों को आसानी से निःसृत कर सकते हैं। ध्यान देने योग्य बात यह है कि अस्मिता के इन प्रत्ययों के साथ-साथ 'अन्य' की अलग-अलग अवधारणा भी जुड़ी हुई है।

(क) ज्ञानोदयी अवधारणा : इसमें वैयक्तिक अस्मिता एकरूप, केंद्रित मनुष्य की अवधारणा पर टिकी है जिसमें तर्क, चेतना और कर्म करने की क्षमता है। इसमें व्यक्तित्व का केंद्र एक भीतरी सारतत्त्व माना गया जो, मूलरूप से जीवन भर समान बना रहता है। इसी सारभूत तत्त्व को अस्मिता की संज्ञा दी गयी। यह बेहद व्यक्तिवादी और मर्दवादी अवधारणा है। इसके निर्माण में 'अन्य' की कोई ख़ास भूमिका नहीं दिखती।

(ख) सामाजिक अवधारणा : यह इस मान्यता पर आधारित है कि आंतरिक सारतत्त्व अपने आप में आत्मनिर्भर नहीं है अपितु इसके निर्माण में 'महत्त्वपूर्ण दूसरों' की विशेष भागीदारी होती है जो प्रतीक, मूल्य और अर्थबोध— संस्कृति

---

[2] विल किमलिका (2000), 'मॉडर्निटी ऐंड नैशनल आइडेंटिटी', श्लोमो बेन-अमी, योआवपेलेड और अल्बर्टो स्पेकियोरोवस्की वगैरह (सम्पा.), *इथनिक चैलेंजेज़ टु मॉडर्न नैशनल स्टेट*, मैक्मिलन, लंदन :12.

08_alok_Layout 1 10/17/2014 4:55 PM Page 573

की दुनिया और व्यक्ति के बीच मध्यस्थता की भूमिका निभाते हैं। इसके अनुसार अस्मिता का निर्माण 'स्व' और समाज के बीच अंत:क्रिया के द्वारा होता है। व्यक्ति में एक भीतरी सारतत्त्व होता है जिसे वास्तविक स्व कह सकते हैं किंतु यह बाहरी दुनिया से संवाद द्वारा बराबर परिवर्द्धित होता रहता है। इस दृष्टि से अस्मिता व्यक्ति को सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना के साथ सिलने का कार्य करती है। इस तरह यह कर्ता और संस्कृति दोनों को स्थायित्व प्रदान कर उन्हें एक दूसरे से जोड़ने और एकरूप तथा पूर्वानुमेय बनाने का कार्य करती है। स्पष्ट है कि इस अवधारणा में अस्मिता निर्माण, 'महत्त्वपूर्ण अन्य' के बिना सम्भव नहीं है।

(ग) उत्तर-आधुनिक अवधारणा : उत्तर-आधुनिक कर्ता की अस्मिता में किसी स्थायी, मूलभूत तत्त्व का स्थान नहीं है। इस प्रारूप में अस्मिता एक 'मूवेबिल फ़ीस्ट' बन जाती है जो विभिन्न सांस्कृतिक संरचनाओं के अनुरूप बराबर बनती और बदलती रहती है। इसका स्वरूप जैविक न होकर ऐतिहासिक होता है। कर्ता विभिन्न समय-स्थानों पर विभिन्न अस्मिताओं का वाहक होता है। ये अस्मिताएँ किसी एक सुसंगत 'स्व' के चारों ओर एकत्र नहीं होती। हमारे अंदर विपरीत दिशाओं की ओर खींचने वाली अंतर्विरोधी अस्मिताएँ भी होती हैं। यदि हम जन्म से मृत्यु तक एकरूप अस्मिता का अनुभव करते हैं तो यह 'स्व' के आख्यान के निर्माण के कारण है। किसी एकरूप, सुसंगत, सुरक्षित, पूर्ण, अखण्ड अस्मिता की बात कल्पना मात्र है। असलियत में हम सम्भावित अस्मिताओं के बहुरूपों से घिरे रहते हैं। इनमें हम किसी एक के साथ थोड़े समय के लिए एकात्मकता अनुभव कर सकते हैं। इसकी सैद्धांतिकी में सारा ज़ोर विच्छिन्नता, विस्थापन, विखण्डन आदि प्रत्ययों पर है। इसके तहत समाज, भिन्नता से जाना जाता है जो वैयक्तिक अस्मिता निर्माण के लिए अनेक स्थितियों का निर्माण करती है। लेकिन इसमें अस्मिता-निर्माण को लेकर नयी समस्याएँ भी पैदा होती हैं।

अ- अस्मिताएँ एक दूसरे की विरोधी भी हो सकती हैं।

ब- नये विरोध समाज में बाहर और व्यक्तियों के मन के भीतर, दोनों जगह हो सकते हैं।

स- किसी एक अस्मिता को 'प्रधान अस्मिता' (मास्टर आइडेंटिटी) की संज्ञा नहीं दी जा सकती। लोग किसी एक संदर्भ-विशेष से अपने व्यवहार को बाँधना नहीं चाहते।

द- आपस में प्रतिस्पर्धा करती अस्मिताओं का उदय।

ह- वर्ग केंद्रित राजनीति के स्थान पर अस्मिता केंद्रित राजनीति का उदय।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर अस्मिता और अन्यता के संबंधों का एक ऐसा नया व्याकरण गढ़ा जा सकता है जो सामाजिक जीवन को अस्मिताओं के टकराव से मुक्ति दिलाने में भी कारगर हो। अस्मिता की सारतत्त्ववादी व्याख्या जो उसे 'प्राकृतिक' समझने की भूल करती है, वास्तविक अस्मिताओं को समझने में हमारी मदद नहीं करती। इससे न तो समूहों के आंतरिक विभेदों को समझा जा सकता है और न व्यक्ति के आंतरिक अंतर्विरोधों को। साथ ही व्यक्तिगत और सामाजिक स्तरों पर परिवर्तन की भी सटीक व्याख्या सम्भव नहीं है।

अस्मिता की उत्तर-आधुनिक समझ के साथ दिक़्क़त यह है कि इसके द्वारा हम अस्मिताओं के आधार पर किये जा रहे दावों का उचित मूल्यांकन नहीं कर सकते क्योंकि अस्मिताएँ सामाजिक-आर्थिक संरचना से कट कर स्वेच्छाचारी व्यवहार करती हैं। अब सवाल यह उठता है कि उपरोक्त दोनों (सारतत्ववादी और उत्तर-आधुनिक) से अलग वैचारिक ढाँचा क्या होगा जो अस्मिता की यथार्थवादी समझ से न्याय कर सके।

किसी भी वैयक्तिक अस्मिता का निर्माण उसके सामाजिक वातावरण में ही होता है। 'मैं' का अर्थ है अस्तित्ववान होना लेकिन इतना मात्र अस्मिता के लिए काफ़ी नहीं है। अस्मिता वह है जो व्यक्तित्व को अर्थ प्रदान करती है। चूँकि व्यक्ति का अस्तित्व कभी दूसरों से विच्छिन्न नहीं होता इसलिए अस्मिता का एक आवश्यक सामाजिक आयाम भी होता है। अत: वैयक्तिक अस्मिता की

08_alok_Layout 1 10/17/2014 4:55 PM Page 574

परिभाषा उसके सामाजिक संदर्भ से काट कर नहीं दी जा सकती। समूह अपनी अस्मिता का कुछ भाग भाषा और संस्थाओं के माध्यम से वैयक्तिक अस्मिता को स्थानांतरित कर देता है। इसीलिए 'मैं' और 'हम' को बिना दूसरे (अदर दैन आइ ऐंड वी) को संदर्भित किये परिभाषित नहीं किया जा सकता। अत: हम कह सकते हैं कि अस्मिता निर्माण न केवल विषयी के साथ होता है अपितु दूसरों की अस्मिता के साथ भी होता है। व्यक्ति की अस्मिता के हमेशा दो आयाम होते हैं— पहला, जो उसे एक विशिष्ट विषयी का दर्जा देता है और दूसरा, जो उसे सामाजिक विषयी बनाता है।

चूँकि अस्मिता की चेतना दूसरों का अस्तित्व मान कर ही सम्भव है इसलिए प्रत्येक अस्मिता दूसरों के साथ एक संवाद से जुड़ी रहती है। यह संवाद भाषा के माध्यम से होता है। अत: भाषा से अस्मिता का अनिवार्य संबंध होता है। प्रत्येक संवाद की तरह यहाँ भी टकराव की सम्भावना बनी रहती है। दरअसल व्यक्ति और समूह, दोनों की अस्मिता के लिए 'विशिष्ट दूसरों' से टकराना आवश्यक होता है। यह टकराव ही अस्मिता को सम्भव बनाता है। व्यक्ति दूसरों से संबंध को मान्यता तब तक नहीं दे सकता जब तक कि वह अपनी अस्मिता को मान्यता न दे। उसी तरह दूसरों की अस्मिता को मान्यता दिये बिना कोई अपनी अस्मिता को मान्यता नहीं दे सकता। अत: अस्मिता और अन्यता में परस्पर निर्भरता का संबंध है।

चूँकि सामूहिक कर्म किसी शुभ के संदर्भ में ही सम्भव है, अत: यह व्यक्तियों को एक सांस्कृतिक संरचना से बाँध देता है। संस्कृति सामाजिक संबंधों की प्रतीकाश्रित मध्यस्थता का कार्य करती है। संस्कृति देखी-सुनी जाती है। अत: हम कह सकते हैं कि अस्मिताएँ सामाजिक दायरे में सांस्कृतिक मध्यस्थता द्वारा ही पहचान पाती हैं।

इस विवेचन से यह तो स्पष्ट ही है कि अस्मिता को किसी अमूर्त सारतत्त्व के आधार पर परिभाषित करना ग़लत है। अस्मिता कोई गतिहीन तत्त्व नहीं बल्कि गतिशील वास्तविकता है। अत: इसे द्वंद्वात्मक तर्क द्वारा ही समझा जा सकता है। चूँकि इसमें एक विशिष्ट स्थायी तत्त्व भी रहता है अत: इसके सातत्य को समझना अनिवार्य है। यह सातत्य परिवर्तन के साथ ही होता है। बिना परिवर्तन के कोई अस्मिता नहीं हो सकती। इसे शरीर के उदाहरण से समझा जा सकता है। परिवर्तन के साथ ही शरीर किसी विशिष्ट व्यक्ति का ही रहता है। उसमें परिवर्तन की शक्ति निहित होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि अस्मिता जन्मजात नहीं होती अपितु समाज-निर्मित होती है। चाहे वह कितनी भी स्थायी जान पड़े। इसलिए उसमें परिवर्तन सम्भव है। मनुष्य किसी नाटक के पात्र की तरह नहीं होता जिसकी भूमिका पहले से लिखी हुई हो। वह निर्धारक और निर्धारित दोनों है। सीमित ही सही, उसमें अपनी अस्मिता के निर्माण और प्रदत्त अस्मिता से परे जाने की क्षमता है। इसी में आशा की किरण भी दिखाई देती है। अस्मिता सुदूर अतीत में खोज का विषय मात्र नहीं वरन् भविष्य के चयन का विषय भी है।

जटिल आधुनिक समाजों में प्रत्येक व्यक्ति की अनेक अस्मिताएँ होती हैं जो अलग-अलग संदर्भों में प्रभावी होती हैं। उदाहरण के लिए एक ही व्यक्ति बनिया, वैष्णव, हिंदू, बिहारी, व्यापारी, भारतीय, राजनेता आदि हो सकता है। संदर्भ के अनुरूप उसकी कोई न कोई अस्मिता वरीयता प्राप्त करती रहेगी। मंदिर जाते समय यदि उसका हिंदू होना अधिक महत्त्व रखता है तो बाज़ार में उसका व्यापारी होना ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है। अत: अस्मिता विमर्श हमेशा अस्मिताओं का विमर्श होता है, यह याद रखना ज़रूरी है। हमें किसी एक अस्मिता को प्रधान या मूल अस्मिता मानने से बचना चाहिए। जैसा कि अमर्त्य सेन ने दर्शाया है, इस संसार में बहुतेरे टकराव और हिंसा किसी एक अस्मिता को अनन्य, प्रधान और चयन से परे मानने के भ्रम पर टिके हुए हैं। यह सही है कि अस्मिताओं में चयन की स्वतंत्रता किसी भी संदर्भ में सीमित ही होती है लेकिन होती अवश्य है। उसे झुठला कर हम अपना ही अहित करेंगे। सेन के शब्दों में,

> अस्मिता केवल गर्व और ख़ुशी का ही नहीं बल्कि ताक़त और आत्म-विश्वास का स्रोत भी हो सकती है... और यह अस्मिता दूसरों का पूरी निर्ममता के साथ संहार भी कर सकती है। किसी

08_alok_Layout 1 10/17/2014 4:55 PM Page 575

> समूह के साथ अतिशय जुड़ाव की भावना कई परिस्थितियों में, अन्य समूहों से दूरी और अलगाव का पर्याय भी बन सकती हैं। किसी समूह में एकजुटता की भावना अन्य समूहों के बीच बदअमनी को भी बढ़ावा दे सकती है।[3]

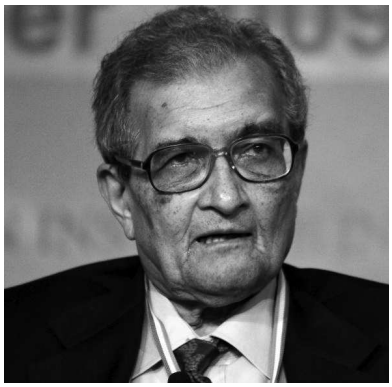

अस्मिता केवल गर्व और ख़ुशी का ही नहीं बल्कि ताक़त और आत्म-विश्वास का स्रोत भी हो सकती है... और यह अस्मिता दूसरों का पूरी निर्ममता के साथ संहार भी कर सकती है। ... किसी समूह में एकजुटता की भावना अन्य समूहों के बीच बदअमनी को भी बढ़ावा दे सकती है।

किंतु यहाँ हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि पिछले कई दशकों में, भूमण्डलीकरण के बढ़ते क़दमों के विरोध में, सांस्कृतिक अस्मिताएँ एक चुनौती के रूप में उठ खड़ी हुई हैं। धार्मिक आतंकवाद के रूप में इसका चरम प्रारूप विश्व-शांति के लिए ख़तरा बना हुआ है। सवाल उठता है कि ऐसा कैसे हुआ? क्या कुछ अस्मिताएँ हमारे लिए अन्य के मुक़ाबले अधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं या फिर भूमण्डलीकरण के संदर्भ में ही कुछ ख़ास बात है जिसके कारण हमारे लिए सांस्कृतिक अस्मिता कुछ ज़्यादा ही महत्त्वपूर्ण हो उठी? लगता है दोनों बातों में थोड़ा-थोड़ा सच है। अस्मिता की मूल्यवत्ता जीवन में गहरे अर्थबोध और पहचान की ज़रूरत से जुड़ी हुई है। जाति, धर्म और राष्ट्र पर आधारित अस्मिताएँ इन ज़रूरतों को अन्य अस्मिताओं से ज़्यादा प्रभावशाली ढंग से पूरा करती दीखती हैं। इसी कारण इनसे हमारा भावनात्मक जुड़ाव अन्यों के मुक़ाबले ज़्यादा होता है। जब किन्हीं कारणों से इनको ख़तरा महसूस होता है तो ये आत्मरक्षा में उभर कर हिंसा के लिए उद्धत हो उठती हैं। भूमण्डलीकरण जिस दोहरे विस्थापन को जन्म देता है उसमें व्यक्ति न केवल अपने जन्म स्थान से उखड़ जाता है, अपितु उन मान्यताओं, समूह और संस्कृति से कट जाता है जिसका कि वह सदस्य था। ऐसे में वह अस्मिता संकट से घिर जाता है और अपनी जातीय, धार्मिक, कबीलाई पहचान में सुरक्षा ढूँढ़ने लगता है। इसके अलावा, जैसा कि मैनुअल कैसल्स ने दर्शाया है, जब भूमण्डलीकरण में आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक जीवन पर से व्यक्ति की पकड़ छूटने लगती है तो वह जीवन में अर्थ की खोज और भूमण्डलीकरण के विरोध के लिए उन अस्मिताओं की ओर मुड़ जाता है जहाँ उसका, कम या ज़्यादा, वश चलता है। इसीलिए परिवार, जाति और धर्म पर आधारित अस्मिताएँ उस पर हावी हो जाती हैं। ये अस्मिताएँ उसकी व्यक्तिगत और समूहगत अस्मिता की ज़रूरतों को पूरा करके उसे बिखराव के अस्मिता-संकट से उबार तो लेती हैं किंतु कई बार पुनरुत्थानवाद और आतंकवाद के दलदल में भी फँसा देती हैं। यदि ऐसी चरम स्थिति नहीं भी आती है तो भी, आज के दौर में, अपने अपने अधिकारों और पहचानों की रक्षा हेतु लोग समूहगत अस्मिताओं के इर्द-गिर्द जमा होकर अस्मिता की राजनीति करने लगते हैं जिसका व्यापक असर सभी समाजों में देखा जा रहा है। इसके चलते मानव मुक्ति का सपना खो-सा गया लगता है। यह चिंता का विषय है।

---

[3] अमर्त्य सेन(2006), *आइडेंटिटी ऐंड वायलेंस,* पेंगुइन बुक्स, लंदन : 1-2.

08_alok_Layout 1 10/17/2014 4:55 PM Page 576

धोखा, अपमान और बेइज़्ज़ती की ऐतिहासिक स्मृति हिंसा-प्रतिहिंसा के ऐसे दुष्चक्र को जन्म देती है जिसका आवश्यक परिणाम जातीय घृणा और विद्वेष ही होता है। इसी के चलते टकराने वाले समूह एक दूसरे के भीतर पनपने वाले विभेदों को भुलाकर एक काल्पनिक समूह 'वे' को जन्म देते हैं और समस्त ऐतिहासिक नुक़सानों की ज़िम्मेदारी उन्हीं पर डाल देते हैं।

अस्मिताओं के टकराव के पीछे दो कारण और देखे जा सकते हैं। धोखा, अपमान और बेइज़्ज़ती की ऐतिहासिक स्मृति हिंसा-प्रतिहिंसा के ऐसे दुष्चक्र को जन्म देती है जिसका आवश्यक परिणाम जातीय घृणा और विद्वेष ही होता है। इसी के चलते टकराने वाले समूह एक दूसरे के भीतर पनपने वाले विभेदों को भुलाकर एक काल्पनिक समूह 'वे' को जन्म देते हैं और समस्त ऐतिहासिक नुक़सानों की ज़िम्मेदारी उन्हीं पर डाल देते हैं। ऐसे में एक दूसरे के बारे में कई तरह की रूढ़िवादी धारणाएँ भी जन्म लेती हैं जो आग में घी का काम करती है।

यहीं पर यह प्रश्न उठाना समीचीन होगा कि क्या अमर्त्य सेन द्वारा प्रस्तावित उपायों से अस्मिताओं के बीच हिंसक टकराव से बचा जा सकता है? शुद्ध तार्किक दृष्टि से देखने पर उनमें कोई खोट दिखाई नहीं देता किंतु क्या उनकी प्रभाव-क्षमता भी उतनी ही अचूक है? हमारी अस्मिताएँ अनेक हैं, उनमें कोई प्रधान नहीं है, सभी का महत्त्व संदर्भ के अनुसार है। सांस्कृतिक अस्मिता भी हमारी नियति नहीं हैं। सीमित ही सही, पर हमें सांस्कृतिक स्वतंत्रता का हक़ है आदि बातें निश्चय ही अस्मिता के बारे में हमें कई भ्रमों से निजात दिला देती हैं। लेकिन यह काफ़ी नहीं है। मानव-व्यवहार केवल तर्क का मसला नहीं है, कई बार तर्क केवल बाद में युक्तीकरण के माध्यम मात्र होते हैं। वास्तविक कारक कहीं मानव मनोविज्ञान की गहरी अँधेरी गुफ़ाओं में छिपे रहते हैं जिन्हें केवल सही समझ से नहीं बदला जा सकता। इसके अलावा परिस्थितियों की मार से भी बचना मुश्किल होता है। सेन ने स्वयं माना है कि कई परिस्थितियों में (विशेषकर भारत में साम्प्रदायिक दंगों, आतंकी हमलों, श्रीलंका, मध्यपूर्व आदि की स्थितियों में) सांस्कृतिक अस्मिता में चयन की स्वतंत्रता बहुत क्षीण हो जाती है। 'आप' वही होते हैं जो 'अन्य' आपको मानते हैं। अत: सेन के प्रस्तावों से सहमत होते हुए भी हमें कहना पड़ता है कि वे काफ़ी नहीं हैं। हमें मानव मन की गहराइयों में भी झाँकना होगा जहाँ अस्मिताएँ जड़ीभूत होती हैं। साथ ही हमें अपने नैतिक और राजनीतिक प्रयत्न भी जारी रखने होंगे ताकि टकराव ख़त्म न होने की दशा में भी अस्मिताओं का शांतिपूर्ण सहअस्तित्व क़ायम रह सके। क्या अस्मिता आधारित राजनीति से यह सम्भव है?

आधुनिक समाजों में अस्मिताओं के महत्त्वपूर्ण बने रहने का एक कारण यह भी है कि वस्तुओं, सेवाओं, संसाधनों का बँटवारा उन्हीं के अंतर्गत होता है। हम अपने को जैसा समझते हैं या जैसा दूसरे हमें मानते हैं— इस बात को बहुत दूर तक प्रभावित करता है कि हमारे जीवन में कौन से अवसर उपलब्ध होंगे, हम कहाँ रह सकते हैं, किससे शादी कर सकते हैं और हमें किस तरह की शिक्षा और रोज़गार हासिल होगा। दरअसल, अस्मिताओं का निर्माण जिन सामाजिक संबंधों के अंतर्गत होता है वे शक्ति-संबंध होते हैं। इसीलिए अस्मिताएँ समाज में सामान्य भिन्नताओं की ओर इशारा करते हुए बराबरी के संबंध में नहीं रहती बल्कि एक ग़ैर-बराबरी और ऊँच-नीच के स्तरीकृत संबंध में स्थित होती हैं। इसलिए समाज में संसाधनों का बँटवारे में अस्मिताएँ विशेषाधिकार शोषण, दमन, बहिष्करण,

08_alok_Layout 1 10/17/2014 4:55 PM Page 577

हाशियाकरण का स्रोत बन जाती हैं। यह अस्मिताओं के मध्य संवाद के स्थान पर टकराव और संघर्ष का आधार तैयार करता है और इसी से अस्मितावादी राजनीति का जन्म होता है। भारत की जाति व्यवस्था और जाति आधारित राजनीति इसका उपयुक्त उदाहरण है। न्याय और सम्मान की प्राप्ति के लिए निम्न जातियों और स्त्रियों का संघर्ष ऐसी ही परिघटना है। पूर्व में भाषा और धर्म की अस्मिताओं के आधार पर राजनीति के इतिहास से हम सभी परिचित हैं। देखना यह है कि अस्मितावादी राजनीति अस्मिताओं के बीच संबंधों का कैसा स्वरूप गढ़ रही है? क्या भविष्य में इस राजनीति से अस्मिता और अन्यता के बीच शांतिपूर्ण संबंध की कल्पना की जा सकती है?

यदि हम स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के भारतीय परिदृश्य पर नज़र डालें तो इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि उदारतावादी लोकतंत्र ने दलित अस्मिता के चारों ओर संगठित राजनीति के लिए अवसर प्रदान किये जिसके परिणामस्वरूप दलितों को वे सुविधाएँ और राजनीतिक सत्ता प्राप्त हुई जो पहले से चली आ रही ग़ैर-दलित अस्मिता राजनीति के अंतर्गत सम्भव न थी। लेकिन साथ ही हम इस दलित राजनीति की सीमाओं को भी नज़रअंदाज़ नहीं कर सकते। किसी भी अस्मितावादी राजनीति की तरह उसमें अलगाव का एक तत्त्व निहित रहता है जिसके कारण वह अन्य वंचित समुदायों की न्याय की लड़ाई से जुड़ी हुई नहीं रह पाती। भारतीय समाज में आरक्षण को लेकर चलने वाला संघर्ष इसका जीता-जागता उदाहरण है। दूसरी समस्या यह है कि दलितों के भीतर ही विभेदीकरण है जिसे यह राजनीति नज़रअंदाज़ करना चाहती तो है किंतु कर नहीं पाती। नतीजा एक तरह की आंतरिक कलह और विभिन्न दलित गुटों का अपने हितों को लेकर सक्रिय होने में निकलता है। यह स्थिति कभी स्थिरता नहीं आने देती। सबसे बड़ी समस्या यह है कि अस्मितावादी दलित राजनीति उसी दलित पहचान को और अधिक मजबूत बनाती है जिसके परे जाना उसका मूल उद्देश्य था। हम सभी जानते हैं कि आम्बेडकर का 'जाति नष्ट करो' का सपना किस तरह कांशीराम-मायावती तक आते-आते चूर-चूर हो गया। अत: हम कह सकते हैं कि अस्मिता केंद्रित राजनीति से भले ही किसी वंचित का कुछ भला हो जाय, यह अस्मिता और अन्यता की मूल समस्या का हल नहीं है। यह मनुष्य को संकीर्ण अस्मिताओं में क़ैद कर उन्हें दूसरों के ख़िलाफ़ खड़ा कर देती है जहाँ संवाद और संकीर्ण अस्मिताओं से परे किसी नैतिक-सामाजिक संबंध की गुंजाइश समाप्त हो जाती है।

II

हमारे उपरोक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट ही है कि अस्मिताओं के टकराव का हल मूलतत्त्ववाद या आतंकवाद या अस्मिता केंद्रित राजनीति नहीं हो सकती। इसके लिए हमें मूल समस्या— हम भिन्न होते हुए भी साथ-साथ कैसे शांतिपूर्वक जिएँ— का हल खोजना होगा। विचारकों ने इसके लिए कई मॉडल सुझाए हैं। सर्वसमावेशीवाद (एसीमिलेशनिज़म) और बहुसंस्कृतिवाद (मल्टी-कल्चरलिज़म) जैसे मॉडल तो कुछ समय से प्रचलन में हैं किंतु सफल होते नहीं दिखते। ऐसे में अंत:संस्कृतिवाद (इण्टरकल्चरलिज़म) और परासंस्कृतिवाद (ट्रांसकल्चरलिज़म) भी चर्चा में है। संक्षेप में इनकी समीक्षा किये बिना हमारा उद्देश्य पूरा नहीं होगा।

सर्वसमावेशीकरण का फार्मूला पुरानी मेल्टिंग पॉट थियरी का नया संस्करण है। यह परम्परागत सांस्कृतिक भिन्नताओं के स्थान पर मानवीय अधिकारों और नागरिकता के आधार पर एकता की वकालत करता है। यह सार्वभौम मनुष्य की परिकल्पना पर आधारित है जो सभी में एक सी आधारभूत चेतना चिह्नित करती है। लेकिन दिक़्क़त यह है कि ऐसी सूक्ष्म चेतना से सम्पन्न सार्वभौम मनुष्य वास्तविकता में कहीं दिखाई नहीं देता जिसे थामस नेगल के 'नो व्हेअर मैन' या क्वाइन के 'कॉस्मिक एग्ज़ाइल' के समकक्ष रखा जा सके। व्यक्ति और समूह अपनी सांस्कृतिक पहचानों को न केवल सुरक्षित रखना चाहते हैं अपितु उनकी स्वीकृति, मान्यता और आदर भी चाहते हैं। इसके अलावा

08_alok_Layout 1 10/17/2014 4:55 PM Page 578

समाजों में सामाजिक-आर्थिक ग़ैर-बराबरी के चलते एकता का यह मॉडल जड़ नहीं जमा सकता।

दूसरा तरीक़ा बहुसंस्कृतिवाद का है जो सांस्कृतिक भिन्नताओं को स्वीकार कर उन्हें राजनीतिक संस्थानों और शासन की नीतियों में उचित स्थान देने का पक्षधर है। यह सर्वसमावेशीवाद की तुलना में अधिक यथार्थवादी और बहुलतावादी है। लेकिन इसके सामने इस दुविधा का कोई हल नहीं दीखता कि विभिन्न सांस्कृतिक अस्मिताओं की स्वीकृति के साथ व्यापक सामाजिक और राष्ट्रीय एकता को कैसे पाया जाए। वास्तव में कुछ अस्मिता केंद्रित टकरावों का कोई हल इसके अंतर्गत नहीं दिखाई देता। फिर, जैसा कि भीखू पारिख तक ने माना है, बहुसंस्कृतिवाद अभी तक अपने मूल सिद्धांतों की स्पष्ट दार्शनिक व्याख्या नहीं कर सका है। इसके अलावा सिद्धांत और व्यवहार में अंतर बना ही रहता है। भिन्नताएँ समान तल पर न होकर एक सीढ़ीदार संरचना में उपस्थित होती हैं और उत्पीड़ित की मानसिकता को जन्म देकर अस्मिताजन्य टकराव की राजनीति को आधार प्रदान करती हैं। इस तरह बहुसंस्कृतिवाद का स्वप्न खण्डित हो जाता है।

भीखू पारिख तक ने माना है, बहुसंस्कृतिवाद अभी तक अपने मूल सिद्धांतों की स्पष्ट दार्शनिक व्याख्या नहीं कर सका है। इसके अलावा सिद्धांत और व्यवहार में अंतर बना ही रहता है। भिन्नताएँ समान तल पर न होकर एक सीढ़ीदार संरचना में उपस्थित होती हैं और उत्पीड़ित की मानसिकता को जन्म देकर अस्मिताजन्य टकराव की राजनीति को आधार प्रदान करती हैं। इस तरह बहुसंस्कृतिवाद का स्वप्न खण्डित हो जाता है।

उक्त चुनौती का सामना करने के लिए तीसरा मॉडल अंत:संस्कृतिवाद का है जो ज़्यादा व्यावहारिक प्रतीत होता है। उपरोक्त दोनों मॉडलों से यह इस रूप में भिन्न है कि यह अस्मिता की किसी सारतत्त्ववादी समझ को अस्वीकार करता है, चाहे वह सार्वभौम मनुष्य की हो या संस्कृति की। अस्मिता कोई जड़ पदार्थ नहीं है बल्कि अन्यता के सम्पर्क में लगातार होने वाले परिवर्तन का परिणाम है। अत: शुद्ध अस्मिता की अवधारणा एक वैचारिक निर्मिति है। इसलिए अतीत में खोई हुई किसी शुद्ध अस्मिता की खोज एक प्रतिक्रियावादी दु:स्वप्न मात्र है।

भिन्नताओं की स्वीकृति से परे जाकर अंत:संस्कृतिवाद इस बात पर ज़ोर देता है कि सभी संस्कृतियाँ अपने आप में अंत:सांस्कृतिक ही हैं। सांस्कृतिक अंत:क्रिया और लेन-देन यद्यपि कई भीतरी और बाहरी तनावों से कभी पूरी तरह मुक्त नहीं होती किंतु सभी समाज समानता और भिन्नता के बीच अपना संतुलन प्राप्त कर सकते हैं। हाँ, उन्हें यह ज़रूर ध्यान में रखना होगा कि 'अंतिम हल' जैसा कुछ नहीं होता और कुछ हद तक तनाव सर्जनात्मक विकास के लिए ज़रूरी होता है। नागरिकता का अर्थ समान संवैधानिक और क़ानूनी नियमों का पालन है न कि सांस्कृतिक एकरूपता। किंतु यहीं पर प्रश्न भी उठाया जा सकता है कि क्या सांस्कृतिक टकराव से बचने के लिए अंत:संस्कृतिवाद के पास आवश्यक वैचारिक और व्यावहारिक औज़ार हैं? अंत:संस्कृतिवाद में दो कमियाँ परिलक्षित होती हैं। एक, संस्कृतियों में आंतरिक विमर्श की अपर्याप्तता और दो, विभिन्न संस्कृतियों के बीच संबंधों के किसी फ़लक (इण्टरफ़ेस) की कमी। इसी कारण अल्पसंख्यक अस्मिता की अनदेखी एक घायल अस्मिता को जन्म देती है जो संस्कृति का इस्तेमाल लड़ाई के लिए एक प्रतिरक्षात्मक औज़ार की तरह करती है और अंत:सांस्कृतिक सहजीवन को असम्भव बना देती है। बाहरी भिन्नता का स्वीकार तभी सम्भव

08_alok_Layout 1 10/17/2014 4:55 PM Page 579

है जब हम भीतर की भिन्नता को भी स्वीकारें। अत: अंत:संस्कृतिकता का विमर्श प्रजातंत्र और बहुलतावाद से जुड़ा हुआ है।

अंत:संस्कृतिवाद की पूर्व मान्यता है कि संस्कृतियाँ अलग-अलग गोलों की तरह हैं जिनके बीच समानता और आपसी समझदारी को एक दूसरे को काटते गोलों के बीच के क्षेत्र की तरह देखा जा सकता है। किंतु जब हम किसी संस्कृति के आंतरिक विभेदों पर नज़र डालते हैं और उसे किसी भौगोलिक-राजनीतिक सीमा से बँधा हुआ नहीं पाते हैं तो अपने में पर्याप्त, समांगी गोले का रूपक अपनी प्रासंगिकता खो देता है। संस्कृति की अनन्यता और समरसता मात्र एक वैचारिकी का रूप ले लेती है जो कभी-कभी सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के रूप में भी अभिव्यक्त होने लगती है। दिक़्क़त यह भी है कि अलग-अलग गोलों के रूप में संस्कृतियों का विचार उनको एक अलगाववादी स्वरूप प्रदान करता है जिस कारण उनमें सद्भावनापूर्ण आपसी संवाद के स्थान पर टकराव ज़्यादा पनपता है। अंत:संस्कृतिक संवाद की तो शुरुआत ही नहीं हो पाती और 'क्षितिजों का सम्मिलन' (फ़्यूज़न ऑफ़ हॉराइज़ंस) मात्र काग़ज़ी रह जाता है, ठीक उसी तरह जैसे अंतर्धार्मिक संवाद भी सिवा एक दूसरे को बर्दाश्त करने से आगे नहीं जा पाता। और फिर प्रतिनिधित्व के निर्धारण की यह समस्या तो है ही कि कौन किस संस्कृति का प्रतिनिधि हो सकता है, जबकि आज के दौर में संस्कृति की सीमाएँ घुलमिल सी गयी हैं। अत: ज़रूरी है कि हम अंत:संस्कृतिवाद की जगह परासंस्कृतिवाद के मॉडल पर विचार करें।

परासंस्कृतिवाद अपने वर्णनात्मक और मूल्यात्मक, दोनों रूपों में, आज प्रासंगिक होता जा रहा है। यह बात व्यक्ति और समूह, दोनों स्तरों पर कारगर प्रतीत होती हैं। संस्कृतियाँ तेज़ी से वर्णसंकर रूप लेती जा रही हैं। अपने वर्णसंकर स्वरूप में हम सभी अस्मिता-बहुल जीवन जीते हैं। ऐसे में अस्मिता निर्माण का सवाल विभिन्न सांस्कृतिक उद्गमों से प्राप्त अवयवों का समाकलन करना मात्र है। एक बार जब हम व्यक्ति की अस्मिता निर्माण में आंतरिक रूप में अन्यता की भूमिका स्वीकार कर लेते हैं तो सामाजिक रूप से बाहरी अन्य को स्वीकार करना आसान हो जाता है। अत: समस्या बाहरी संस्कृतियों को समझने की न होकर, अन्यता के साथ अंत:क्रिया करने की है। समझ मददगार हो सकती है किंतु अकेले पूरक नहीं। हमें अस्मिता और अन्यता के बीच अंत:क्रिया को बढ़ाना होगा।

हमारे उपरोक्त विवेचन का यह अर्थ बिल्कुल नहीं है कि परासंस्कृतिवाद का मतलब एक वैश्विक सभ्यता के निर्माण हेतु संस्कृतियों की बढ़ती एकरूपता का स्वीकार है। यह तो बहुलता की स्वीकृति है लेकिन इसका रूप पहले से बदला हुआ है। परम्परागत रूप में बहुलता का उद्गम अलग-अलग संस्कृतियाँ थीं लेकिन नये रूप में बहुलता उन परासांस्कृतिक संजालों का परिणाम है जो अलग-अलग स्थानों में, अलग-अलग सांस्कृतिक रेशों से अलग-अलग रूपों में बुने गये हैं। इसीलिए परासंस्कृतिवाद के परिणामस्वरूप एक नये प्रकार की सांस्कृतिक बहुलता का निर्माण होता है जिनमें कुछ तत्त्व समान तो कुछ भिन्न होते हैं। ये सांस्कृतिक अस्मिताएँ, पुराने ढंग की अस्मिताओं के मुक़ाबले एक दूसरे ज़्यादा जुड़ी हुई हैं। अत: परासांस्कृतिक भिन्नता अपनी संरचना में ही अन्यता के साथ के संघर्ष के स्थान पर सहअस्तित्व में जीती है।

परासंस्कृतिवाद अपने में भूमण्डलीय और स्थानीय, दोनों तत्त्वों को स्थान प्रदान करते हुए दोनों के परे जाने की क्षमता दर्शाता है क्योंकि परासांस्कृतिक अस्मिता का एक पक्ष वैश्विक है तो दूसरा स्थानीय। अत:, अंत में हम कह सकते हैं कि सर्वसमावेशीवाद, बहुसंस्कृतिवाद, अंत:संस्कृतिवाद की तुलना में परासंस्कृतिवाद सांस्कृतिक अस्मिताओं के बीच संबंधों को एक नये ढंग से देखने के कारण, सांस्कृतिक-अन्य के साथ, अपनी सांस्कृतिक अस्मिता खोये बिना शांतिपूर्वक जीने की बेहतर सम्भावना प्रदान करता है। यह अलगाव नहीं, लेन-देन, अंत:क्रिया और समाकलन को बढ़ावा देता है।

08_alok_Layout 1 10/17/2014 4:55 PM Page 580

संदर्भ :

अमर्त्य सेन (2006), *आइडेंटिटी ऐंड वायलेंस,* एलेन लेन, पेंगुइन बुक्स, लंदन.

अलेंदे बेनोइस्ट (2004), 'ऑन आईडेंटिटी', *टेलोस,* अंक 128.

क्वामें एंथनी अप्पियाह (2009), 'सेंस आईडेंटिटीज़', कौशिक बसु व रवि कानबुर (सम्पा.), *आर्गूमेंट्स फ़ार ए बेटर वर्ल्ड : एसेज़ इन ऑनर ऑफ़ अमर्त्य सेन,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क.

चार्ल्स टेलर (1989), *सोर्सेज़ ऑफ़ द सेल्फ़,* केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

ज़िगमुंट बाउमैन (2001), 'आइडेंटिटी इन द ग्लोबलाइजिंग वर्ल्ड', एलीजर बेन-राफ़ाल और विट्ज़ाक स्टर्नबर्ग (सम्पा.), *आइडेंटिटी कल्चर ऐंड ग्लोबलाइज़ेशन,* ब्रिल.

जे.एन. मोहंती (2000), *द सेल्फ़ ऐंड इट्स अदर,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

जोनाथन ग्लोवर (2009), 'आइडेंटिटी, वायलेंस ऐंड द पॉवर ऑफ़ इल्यूज़न', कौशिक बसु व रवि कानबुर (सम्पा.), *आर्गूमेंट्स फ़ॉर ए बेटर वर्ल्ड : एसेज़ इन आनर ऑफ़ अमर्त्य सेन,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क.

भीखू पारिख (1999), 'व्हाट इज़ मल्टीकल्चरलिज़म', *सेमिनार,* अंक 484.

मृणाल मीरी (2003), *आइडेंटिटी ऐंड द मॉरल लाइफ़,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

मैनुअल कैसल्स (1998), 'इंटरव्यू मेट मैनुअल कैसल्स', सितम्बर 1998, बर्कले, यूएसए, http://www.vpro.nl/programma/dnw/download/interview-Castells.shtml

विल किमलिका (1995), *मल्टीकल्चरल सिटीज़नशिप,* क्लेरेंडन प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.

विल किमलिका (2000), 'मॉडर्निटी ऐंड नैशनल आइडेंटिटी', श्लोमो बेन-अमी, योआवपेलेड और अल्बर्टो स्पेकियोरोवस्की वग़ैरह (सम्पा.), *इथनिक चैलेंजेज़ टु मॉडर्न नैशनल स्टेट,* मैक्मिलन, लंदन.

वोल्फगैंग वेल्स (1999), 'ट्रांसकल्चरलिटी : द पज़लिंग फ़ॉर्म ऑफ़ कल्चर्स टुडे', माइक फ़ेदरस्टोन व स्काटलैश (सम्पा.), *स्पेसेज़ ऑफ़ कल्चर : सिटी, नेशन, वर्ल्ड,* सेज, लंदन.

स्टुअर्ट हाल (1996), 'द क्वेश्चन ऑफ़ कल्चरल आईडेंटिटी', स्टुअर्ट हाल वग़ैरह (सम्पा), *मॉडर्निटी : एन इंट्रोडक्शन टु मॉडर्न सोसाइटीज़,* ब्लेकवेल पब्लिशर्स, लंदन.